अध्याय-5

धर्म की उत्पत्ति के सिद्धान्त

धर्म के उद्गम स्रोत का स्पष्टतः तथ्याश्रित विवेचन शायद असम्भव है। इसका आदिम स्वरूप इतना प्राचीन है कि इसके बारे में केवल अनुमानित एवं परिकल्पनात्मक न कि तथ्यतः तर्कणापरक विचार प्रस्तुत किया जा सकता है। फिर भी धर्म के प्रारम्भिक स्वरूप को समझने के श्रम-साध्य उपक्रमों को सर्वथा अतर्कणापरक नहीं कहा जा सकता। धर्म की उत्पत्ति-विषयक अनेक सिद्धान्तों में पर्याप्त विविधता एवं अन्तर है, किन्तु इस विविधता में एकरूपता की स्पष्ट झलक मिलती है कि धर्म मानव-संस्कृति का सर्वाधिक महत्वपूर्ण तत्त्व रहा है तथा धार्मिक प्रतिपादन (पूजा, प्रार्थना, उपासना व अराधना इत्यादि) मानव द्वारा प्रयुक्त भाषा के प्राचीनतम रूपों में से एक है।

वस्तुतः धर्म की उत्पत्ति किस प्रकार हुई है, यह धर्म-समाजशास्त्र के समक्ष एक जटिल प्रश्न है। यद्यपि प्रत्येक युग, काल में अनेक आचार्य एवं चिन्तक इस प्रश्न का सम्यक् उत्तर देने का प्रयास करते रहे हैं। इस सन्दर्भ में भिन्न-भिन्न विषयों के भिन्न-भिन्न अध्येता, चिन्तन-मनन एवं शोधन करते रहे हैं एवं अपने-अपने विषय की शोध-विधा के अनुरूप उत्तर देते रहे हैं। वस्तुतः धर्म न तो भौतिक पदार्थ के सदृश कोई ठोस वस्तु है जिसका मापन कर कोई ठोस निर्णय लिया जा सके और न ही उसके आदिम स्वरूप, जो सम्भवतः अत्यन्त प्राचीन है, को निश्चित रूप से समझा ही जा सकता है। इसके बारे में केवल अनुमान ही किया जा सकता है। हाँ, विश्व स्तर पर प्रायः सभी परम्परागत उपासनामूलक धर्मों के आचार्य एवं धर्मशास्त्री दैवी प्रकाशन को धर्म की उत्पत्ति का मूल कारण मानते हैं। उनका आधारभूत विश्वास है कि ईश्वर अपने-आप मनुष्यों के मध्य विशेषरूप से समय-समय पर उपस्थित होता है और अपने माध्यम से धर्म का प्रकाशन करता है। हिन्दू धर्म में इसे अवतारी पुरुष, इस्लाम धर्म में पैगम्बर एवं ईसाई धर्म में प्रोफेट व मसीह के नाम से जाना जाता है। गैर-उपासनामूलक धर्मों में भी किंचित भिन्न रूप में इस मत की पुष्टि की जाती है।

परन्तु आधुनिक वैज्ञानिक युग में धर्म की उत्पत्ति विषयक दैवी प्रकाशन के सिद्धान्त की कटु अनुदार आलोचना की जाती है। आज धर्म को समाज का उत्पाद माना जाता है न कि ईश्वर द्वारा संस्थापित इसे मनुष्य की कृति माना जाता है, ईश्वर की कृति नहीं। अतः धर्म का सष्टा ईश्वर नहीं प्रत्युत समाज है। आज धर्म की उत्पत्ति विषयक दैवी प्रकाशन के सिद्धान्त को अन्धविश्वास एवं रूढ़िवाद का अवशेष माना जाता है।

तथापि, धर्म की उत्पत्ति विषयक प्रश्न आज भी रहस्यमय बना हुआ है। समाज-वैज्ञानिकों ने इस सम्बन्ध में जितनी भी व्याख्याएँ प्रस्तुत की हैं उनमें केवल कुछ ही स्वीकार्य हैं, किन्तु व्याख्याओं को वैज्ञानिक रुप से प्रमाणित न किये जा सकने के कारण ये मत केवल तार्किक अवधारणाएँ मात्र हैं। इसके परिणामस्वरुप इस विषय के विद्वानों में एक बड़ा मतभेद पाया जाता है। फिर भी ये विद्वान् इस बात से सहमत हैं कि धर्म भी अन्य सामाजिक संस्थाओं की भाँति मनुष्य की कुछ आवश्यकताओं से उत्पन्न हुआ है या पृथ्वी पर मानवीय-जीवन की अवस्थाओं के कारण इसका अभ्युदय हुआ है। इस सन्दर्भ में यहाँ हम मानवशास्त्रियों एवं समाजशास्त्रियों द्वारा प्रतिपादित किये गये धर्म की उत्पत्ति विषयक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तों पर प्रकाश डालेंगे।

भय का सिद्धान्त

अत्यन्त प्राचीन काल से यह धारणा चली आ रही है कि धर्म का सृजन सर्वप्रथम मनुष्य ने

अपनी सामाजिक-मनोवैज्ञानिक आवश्यकताओं की पूर्ति करने के लिए किया। यह मान्यता प्राचीन ग्रीस और रोमन समाजों में प्रचलित थी। इस विचार को सर्वप्रथम प्रसिद्ध दार्शनिक एवं कवि *ल्यूक्रेटियस* ने प्रस्तुत किया और यह स्वीकार किया कि ईश्वर में मानवीय विश्वास केवल भ्रान्ति के कारण है और इस भ्रान्ति से उत्पन्न भय से बचने के लिए ईश्वर की आराधना की जाने लगी जिसके परिणामस्वरूप धर्म की उत्पत्ति हुई। अतः भय ही धर्म की उत्पत्ति का मूल कारण है।

आधुनिक काल में अठारहवीं शताब्दी के दार्शनिक *डेविस ह्यूम* ने अपनी पुस्तक *नेचुरल हिस्ट्री ऑफ रिलिजन* में यह स्वीकार किया है कि प्राकृतिक शक्तियां वाले देवताओं के भय से मनुष्य ने ईश्वर में विश्वास करना प्रारम्भ कर दिया, ताकि इन शक्तियों को प्रसन्न रखकर वह किसी प्रकार की हानि से बचा रहे। इस मत को स्वीकार करने वाले अन्य विचारकों में उन्नीसवीं शताब्दी के जर्मन-इंगलिश विचारक *फ्रेडरिक मैक्समूलर* ने कहा कि धर्म का मूलाधार अभूतपूर्व और डरावनी शक्तियों में मनुष्य का भयपूर्ण सम्मान प्रदर्शित करना है। इसी प्रकार गिडिंग्स ने भी रहस्यमयी "महान भयानक" शक्तियों में मनुष्य का सम्मान प्रदर्शित करना धार्मिक विश्वास का मूल माना है।

धर्म की उत्पत्ति का यह सिद्धान्त युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होता है क्योंकि :

1. ईश्वर में मानवीय विश्वास केवल भ्रान्ति के कारण है, ऐसा कहना तर्कणापरक नहीं है। धर्म की उत्पत्ति के इस सिद्धान्त में ज्ञानात्मक पक्ष की प्रत्यक्ष रूप से उपेक्षा की गयी है। वास्तव में बिना जाने-बूझे किसी शक्ति को ईश्वर मानकर मनुष्य उपासना नहीं कर सकता है। यह सम्भव है कि अपने से परे शक्ति के सम्बन्ध में हमारा ज्ञान आभासमात्र हो, किन्तु बिना इस थोड़े ज्ञान के भी उस शक्ति के प्रति मनुष्य की श्रद्धा नहीं हो सकती है।

2. पुनः यह कहना कि भ्रान्ति से उत्पन्न भय के फलस्वरूप ईश्वर में विश्वास किया जाने लगा, यह तर्क भी अतर्कणापरक है। धर्मोत्पत्ति को मात्र भ्रान्तिमूलक भय पर आधृत करना धर्म की ऐकान्तिक व्याख्या प्रस्तुत करना है। सभी प्रकार के भ्रान्तिमूलक भय धार्मिक नहीं होते, वे अधार्मिक भी होते हैं। फिर धर्म मात्र भयमूलक ही नहीं होता, बल्कि इसमें प्रेम,श्रद्धा, भक्ति, आत्मसमर्पण एवं उपासना, स्तुतिगान, कीर्तन इत्यादि भी अनिवार्य रूप से पाये जाते हैं। अतः यदि हम यह कहें कि अज्ञात शक्तियों के प्रति अस्पष्ट भय की भावना से धर्म का विकास नहीं, बल्कि ज्ञात अतिप्रकृतिक शक्तियों के प्रति श्रद्धाविनत प्रेममूलक भक्ति व समर्पण के कारण हुआ है तो शायद अयुक्ति-संगत नहीं होगा।

3. धर्म की उत्पत्ति का मूलस्थ कारण भय को स्वीकार करना एक अन्य कारण से भी भ्रमोत्पादक है। सामान्यतः भय की स्थिति में व्यक्ति भयमूलक स्थिति से दूर जाने का प्रयास करता है, किन्तु धर्म में मात्र अपने इष्ट देवता से दूर जाने की वह कामना नहीं रखता बल्कि उससे निकटस्थ होकर उसकी आराधना करने की उत्कट अभिलाषा रखता है। वह अपने आराध्य देवता की उपासना करते-करते आत्मविभोर हो जाता है। अतः यह कहना युक्तियुक्त प्रतीत होता है कि धर्म की उत्पत्ति का मूल कारण भय नहीं बल्कि प्रेममूलक भक्ति है। श्रीकृष्ण भगवान् गीता में कहते हैं कि जो मुझे जिस रूप में भजते हैं, मैं भी उन्हें उसी रूप में स्वीकार करता हूँ अर्थात् उन्हें उसी प्रकार का भगवान् दिखता हूँ- *"ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तवैय भजाम्यहम्"*। अतः भय को धर्म की उत्पत्ति के मूल कारण के रूप में नहीं सिद्ध किया जा सकता।

सर्वात्मवाद (एनिमिज्म) का सिद्धान्त

सर्वात्मवाद वस्तुतः अंग्रेजी शब्द "एनिमिज्म" का भावानुवाद है। एनिमिज्म लैटिन भाषा के

"एनिमा" शब्द से बना है जिसका तात्पर्य है आत्मा। *एडवर्ड बी टायलर*[1] ने सर्वप्रथम सन् 1781 में प्रकाशित अपनी पुस्तक *प्रिमिटिव कल्चर* में इस सिद्धान्त की व्याख्या धर्म की उत्पत्ति के कारणात्मक विवेचन में किया है। सर्वात्मवाद का तात्पर्य है, वह विश्वास जिसके आधार पर आदिम मानव सभी प्राकृतिक पदार्थों एवं प्रघटनाओं में "आत्मा" को अन्तर्विष्ट मानता है। उसका आधारभूत विश्वास होता है कि जिस प्रकार मानव में आत्मा समाविष्ट है उसी प्रकार ब्रह्माण्ड के सभी प्राकृतिक पदार्थों एवं प्रघटनाओं में आत्मा अन्तर्विष्ट है। प्रकृति की प्रत्येक प्रघटना आत्मामय है, ऐसी उसकी धारणा बन जाती है। ऐसी स्थिति में वह वृक्ष की पत्तियों, पर्तनों के समूहन, नदियों एव निर्झर के कल-कल निनादात्मक जल, बादलों के समूह, नक्षत्र, पशु, पक्षी आदि सभी में आत्मा का वास मानने लगता है। वह अपने से बाह्य वस्तुओं में भी अपनी आत्मा जैसी अनुभूति के अस्तित्व को स्वीकार करने लगता है। वह यह मानने लगता है कि जिस प्रकार उसकी अपनी गतिविधियाँ उसकी आत्मा द्वारा निर्धारित होती हैं, उसी प्रकार इन बाह्य वस्तुओं की गतिविधियाँ भी उनमें समाविष्ट आत्माओं के द्वारा नियमित एवं नियन्त्रित होती है। उसे सम्पूर्ण बाह्य प्रकृति में आत्मा की स्पष्ट झलक मिलने लगती है और तब प्रकृति की प्रत्येक प्रघटना उसे सजीव प्रतीत होने लगती है। ऐसी स्थिति में वह प्रकृति के साथ तादात्म्य सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयास करता है। वह शुभ शक्तिशाली आत्माओं को अपने कल्याण के लिए प्रसन्न रखने का प्रयत्न करता है एवं उनको अपने निकटस्थ बनाये रखने की चेष्टा करता है तथा अशुभ एवं विरोधात्मक शक्तियों को अपने से दूरस्थ बनाये रखने का यथा-सम्भव प्रयास करता है। इसी सन्दर्भ में उसमें शुभ शक्तिशाली आत्माओं को अपने से श्रेष्ठ समझकर उनके प्रति पूजाभाव व आराधना की भावना पल्लवित एवं पुष्पित होने लगती है और परिणामस्वरूप वह उनकी आराधना व प्रार्थना करने लगता है। इसी धारणा से आदिम मानव के मन में धर्म की भावना का उदय हुआ। यही धर्म की उत्पत्ति का मूल कारण है।

टायलर का मत है कि आत्मा की धारणा ही "आदिम मनुष्यों से लेकर सभ्य मनुष्यों तक के धर्म के दर्शन का आधार है।"[2] टायलर का सर्वात्मवाद वस्तुतः दो महान सैद्धान्तिक मतों में विभाजित है: प्रथम मत वैयक्तिक प्राणियों की उस आत्मा से सम्बन्धित है जो मृत्यु या शरीर का विनाश हो जाने के उपरान्त भी बना रहता है और द्वितीय मत वैयक्तिक प्राणियों की आत्माओं के अतिरिक्त अन्य आत्माओं से सम्बन्धित है जिसमें शक्तिशाली देवताओं की आत्माएँ सोपानात्मक श्रेणी क्रम में अवस्थित हैं। इस सोपानात्मक श्रेणी क्रम में ये आत्माएँ प्रेतात्माओं से लेकर शक्तिशाली देवताओं की श्रेणी तक होती हैं जो न केवल अलौकिक हैं प्रत्युत इस जगत् की सभी प्रघटनाओं एवं मानव जीवन की सभी गतिविधियों को निर्देशित व नियन्त्रित करती हैं। इस आत्माओं को प्रसन्न रखने के लिए आदिम जन इनकी पूजा व आराधना करने लगे, जिससे धर्म की उत्पत्ति हुई।

टायलर का कहना है कि आदिम जातियों के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति में जीवन और छाया पाई जाती है। जीवन के ही द्वारा व्यक्ति सोचता-विचारता और काम करता है और छाया उस जीवन की श्वॉस के रूप में कार्य करती है। जीवन और छाया को एक साथ मिलाकर "आत्मा" की धारणा बनी हुई कही जा सकती है। इसलिए टायलर के अनुसार आत्मा एक प्रकार की छाया है जिसे उसने "एक पतली निराकार मानव प्रतिमूर्ति, आकृति में कोहरा, चलचित्र या छाया के सदृश बताया है।"[3] टायलर ने इस धारणा को स्वप्न जैसी सार्वभौम प्रघटनाओं का अवश्यम्भावी परिणाम माना है और यह विश्वास प्रकट

1. इ.बी. टायलर, प्रिमिटिव कल्चर, जान मूरे, लन्दन, 1920
2. वही, पृष्ठ 421
3. वही, पृष्ठ 429

किया कि आदिम मनुष्य किसी ऐसे स्वप्न की जिसमें उसको वास्तविक अनुभव हुए हों, व्याख्या कठिनता से ही कर सकता है। उदाहरणस्वरूप, उसने एक शिकार के अभियान को जिसमें उसे शिकार घर लाने पर अच्छा भोजन मिला, स्वप्न में देखा। जागने पर जब वह पाता है कि वह कहीं गया है तब वह इस घटना की व्याख्या केवल आध्यात्मिक आत्मा जो उसकी शारीरिक आत्म से अलग हो सकती है और स्वतन्त्र रूप प्रदान कर सकती है, के द्वारा ही कर सकता है। मृत्यु विभ्रम, मृगी के दौरे व शारीरिक प्रघटनाएँ यथा, छाया, प्रतिबिम्ब, प्रतिध्वनि आदि कुछ अन्य कारक थे, जिन्होंने आत्माओं में उसके विश्वास को और अधिक बढ़ाया।

इसी आधार पर शायद आदिम जातियों के अन्दर ऐसी धारणा बनी कि प्रत्येक व्यक्ति की अपनी आत्मा स्वप्न की अवस्था में शरीर को छोड़कर स्वतन्त्र रूप से घूमती रहती है और विभिन्न प्रकार का अनुभव लेकर फिर बाद में शरीर में वापस चली आती है। इस प्रकार की आत्मा को उन्होंने स्वतन्त्र आत्मा के नाम से सम्बोधित किया। इसके अतिरिक्त स्वप्नों के आधार पर उन्होंने यह भी निष्कर्ष निकाला कि मनुष्य के शरीर में जब तक यह आत्मा रहती है, मनुष्य जीवित रहता है, किन्तु जब यह उसका परित्याग कर देती है या उसमें से निकल जाती है तो मनुष्य की मृत्यु हो जाती है। इस प्रकार की आत्मा को उन्होंने शरीर आत्मा (बॉडी सोल) कहा। जब किसी व्यक्ति की मृत्यु हो जाती है तो उस व्यक्ति की आत्मा स्वच्छन्दता से भ्रमण करने लगती है, परन्तु आदिम जातियों को अनेक बार मृतकों के जीवित शरीर स्वप्न में दिखाई पड़ते थे जिसके आधार पर उनको यह विश्वास हो गया कि शरीर आत्मा का विनाश नहीं होता है, अतः ये अमर हैं। इस सन्दर्भ में उन्हें यह भी विश्वास हुआ कि आत्माएँ अनियन्त्रित हैं, इन पर किसी का नियन्त्रण नहीं है। यदि शक्तिशाली आत्माओं से सम्बन्ध स्थापित किया जाय तो ये आत्माएँ व्यक्ति के लिए मंगलकारी सिद्ध हो सकती हैं। इसके अतिरिक्त उनका यह भी विश्वास था कि आत्माएँ अशुभदायक एवं अमंगलकारी भी होती हैं जिन्हें अनिष्टकारी आत्माएँ अथवा दुष्टात्माएँ कहा जा सकता है। ऐसी आत्माओं से आदिम मानव सदैव अपने को दूर रखना चाहता था। अतः मंगलकारी आत्माओं को प्रसन्न रखने के लिए आदिम मानव उनकी पूजा व आराधना करना प्रारम्भ कर दिया जिससे धर्म की उत्पत्ति हुई। वस्तुतः जब मनुष्य में एक बार आध्यात्मिक प्राणी का विचार उत्पन्न हो जाता है तब उसके लिए आत्मवादी प्राणियों, आत्मवादी पदार्थों या वस्तुओं एवं आत्मवादी प्रतीकों में एक आत्मा को पाना सरल प्रक्रिया बन जाती है। आदिम मानव इन्हीं कारणों से सर्वात्मवाद में विश्वास करने लगा जिसे टायलर ने सभी धर्मों का मूलरूप कारण माना है।

उल्लेखनीय है कि आदिम जातियाँ आत्मा को शरीर से पूर्णतया भिन्न स्वरूप का नहीं समझती हैं। प्रायः साम्प्रतिक विचार में, आत्मा का अर्थ है, "वह जो शारीरिक अथवा भौतिक न हो।" यह पूर्णतया अभावात्मक अर्थ है और अमरता के सम्बन्ध में इस अर्थ में काफी कठिनाई चली आती है। लेकिन आदिम जातियों के लिए आत्मा से सूक्ष्मधारी जीव का बोध होता है।[4] इस प्रकार की आत्मा में आदिम मानव के विश्वास की पुष्टि निम्नलिखित उदाहरणों के आधार पर की जा सकती है–

प्रो० श्यामाचरण दूबे ने अपनी पुस्तक *"मानव और संस्कृति में"*[5] लिखा है कि सर्वात्मवाद की श्रेणी में रखे जाने योग्य विश्वास भारत के प्रायः प्रत्येक आदिवासी समूह में बड़ी सरलता से पाये जा सकते हैं। अदृश्य अव्यक्त, अभौतिक तथा आत्मिक, इस प्रकार की शक्तियों में अधिकांश भारतीय

4. आर.एच. लोवी ने भी टायलर के मत को स्वीकार किया है। विस्तृत ज्ञान के लिये दर्ष्टव्य आर.एच. लोवी, *प्रिमिटिव रिलिजन,* जार्ज स्टलेग ऐण्ड सन्स, 1936, पृष्ठ 99-100
5. श्यामाचरण दुबे, *मानव और संस्कृति,* राजकमल प्रकाशन, प्राइवेट लिमिटेड नयी दिल्ली, तृतीय संस्करण, 1982, पृष्ठ 261-262

आदिवासी समूह विश्वास रखते हैं। यद्यपि भारत में सम्भवतः एक भी समूह ऐसा नहीं है जो सम्पूर्ण रूप से यह धारण रखता हो कि मनुष्य जन्म से मृत्यु तक अदृश्य आत्माओं, प्रेतों और शक्तियों से घिरा रहता है और जिस पर नयी धार्मिक विचारधाराओं का प्रभाव ही न पड़ा हो, फिर भी प्रायः प्रत्येक आदिवासी संस्कृति के किसी न किसी पक्ष में उक्त श्रेणी के विचारों की स्पष्ट छाप देखी जा सकती है। उदाहरणार्थ, छत्तीसगढ़ के कमारों के अनुसार चट्टान, पहाड़, पेड़ और नदियाँ, ये सब जीवयुक्त होते हैं। जीवयुक्त होने के साथ ही साथ इनमें अन्य जीवोचित गुण-दोष भी होते हैं। ये प्रसन्न भी हो सकते हैं, कुपित भी। नदी के बीचोबीच खड़ी एक चट्टान के सम्बन्ध में *कमारों* के एक समूह ने प्रो. दुबे को बताया कि वे उस चट्टान को नियमित रूप से बलि और भेद देते थे इसलिए वह उन पर प्रसन्न थी। एक रात को उस समूह के एक प्रमुख व्यक्ति से सपने में चट्टान ने कहा "मैं भूखी हूँ। अपनी बलि लूँगी। गाँव को सावधान कर दो" दूसरे ही दिन गाँव में बात फैल गयी और उसके निवासी नदी की ओर गये ही नहीं। सन्ध्या होते ही समाचार मिला कि समीप के गाँव के तीन व्यक्ति चट्टान के पास एक भँवर में डूबकर मर गये। इस घटना का वर्णन करने वाले व्यक्ति का पूर्ण विश्वास था कि उस गाँव ने तीन वर्ष तक चट्टान की भेंट-पूजा नहीं दी थी, इसीलिए कुपित होकर उसके "जीव" ने गाँव के लोगों से बदला ले लिया।

मिर्जापुर के आदिवासी *कौरवा* लोगों के सम्बन्ध में मजुमदार ने लिखा है कि उनके लोक-विश्वास के अनुसार फसल, वर्षा तथा गाय-बैल आदि का नायकत्व करने वाली आत्माएँ होती हैं जो कोरवा जनजाति का अन्य समवर्ती जनजातियों, जाति के पुजारी तथा जाति के नायक आदि के प्रति दृष्टिकोण निर्धारित करती है।[6]

प्रो0 दुबे के अनुसार मध्य प्रदेश की जनजातियों में "जीव" सम्बन्धी धारणाएँ बहुतायत से मिलती हैं। उदाहरणार्थ, छत्तीसगढ़ की कमार और भूजिया जनजातियों में अधिकांश स्वप्नों के सम्बन्ध में यह विश्वास है कि ये व्यक्ति के "जीव के स्वतन्त्र एवं पृथक अनुभव होते हैं। मनुष्य का शरीर जब निद्रा-मग्न होकर विश्राम करता है तो उसका चंचल जीव बाहरी दुनियाँ की सैर करना चाहता है। उनकी दृष्टि में स्वप्न भी उतने ही यथार्थ होते हैं जितने जागृत स्थिति में मनुष्य-शरीर के प्रत्यक्ष अनुभव। अन्तर केवल इतना है कि एक स्थिति में अनुभूति शरीर की होती है, दूसरी में जीवन की। स्वयं जीवन के स्वरूप और गुणों के सम्बन्ध में अनेक धारणाओं का प्रचलन है। कमारों के अनुसार मृत व्यक्ति का शरीर तो "मढ़ी" बनाकर श्मशान में वास करने लगता है किन्तु उसका "जीव" सीधे भगवान् के पास चला जाता है। "मढ़ी" की अपनी स्वतन्त्र चेतना होती है और वह अन्य जीवों को हानि पहुँचा सकता है। परिवार के लोग जब "जीव" का आवाहन करते हैं तो यह "गाताडूमा" के स्थान पर जहाँ अन्य पुरखों के जीवन भी वास करते हैं, आकर रहने लगता है। कतिपय अन्य समूहों में विश्वास किया जाता है कि व्यक्ति की दो आत्माएँ होती हैं- एक बाह्य दूसरी आन्तरिक। एक सीमा तक उक्त धारणा और कमार लोक-विश्वास में हमें साम्य दिखाई पड़ता है। स्वप्न में जीवन कभी-कभी अस्थायी रूप से बाहर जाता है और कुछ समय बाद वापस आ जाता है। सम्भवतः मृत्यु भी अस्थायी हो, इस भावना से प्रेरित होकर नीलगिरि क्षेत्र के "टोडा" और छोटानागपुर के "हो" समूहों में दो प्रकार की अन्तिम क्रियाएँ होती हैं..... *कच्ची* और *पक्की*। मृत्यु के बाद तुरन्त कच्ची अन्त्येष्टि क्रिया होती है और पर्याप्त समय बीत जाने के बाद पक्की। तुलनात्मक दृष्टि से दूसरी क्रिया बड़ी महत्वपूर्ण मानी जाती है। "हो" जन-जाति में जीवन के *बोंगा* नामक अदृश्य शक्ति में मिल जाने के उपलक्ष्य में इस क्रिया के समय ढोल बजाये जाते हैं और उत्सव मनाया जाता है।[7]

6. प्रो. श्यामाचरण दुबे द्वारा उद्धृत, वही, पृष्ठ 262
7. वही, पृष्ठ 263

बंगाल की खाड़ी में अण्डमान द्वीप के नेग्रिटो वर्ग की जातियाँ आत्माओं में विश्वास रखती हैं। इनके अनुसार भी ये आत्माएँ श्वाँस के रूप में रहती हैं। इन्हें व्यक्तियों की "परछाई" या छाया कहा जा सकता है जो मानवशरीर को स्वप्न या मृत्यु के समय छोड़कर जंगल या समुद्र की आत्माएँ बन जाती हैं।[8] परन्तु इन जातियों के अनुसार भी आत्माओं को पूर्णतया अदैहिक नहीं माना जा सकता है। प्रायः ये आत्माएँ अपने विकराल रूप में व्यक्तियों को दिखाई देती हैं और फिर शिकार करती, मछलियों का भोग करती और नाचती-गाती हैं। अतः इन आत्माओं को "सूक्ष्म देहधारी" कहा जा सकता है। इसी प्रकार इदाहों की जातियाँ मुगुआ नामक आत्मा के अस्तित्व को मानती है और उनके अनुसार व्यक्तियों के सिर में इन आत्माओं का वासस्थान है। इनका आकार लगभग दस इंच का होता है।

पुनश्च, अफ्रिका के किलिमंजारों पर्वत की बण्टु जाति के जग्गा सम्प्रदाय के लोग आत्माओं में विश्वास करते हैं। वे इन आत्माओं को जीवित व्यक्तियों से भिन्न मानते हैं। ये आत्माएँ जिनमें मृत जनों की प्रेतात्माएँ भी सम्मिलित हैं, व्यक्तियों के शुभ-अशुभ, भाग्य-दुर्भाग्य इत्यादि का निबटारा करती हैं। इनकी पूजा या तो व्यक्ति अकेले या सम्पूर्ण जाति सामूहिक रीति से विशेष अवसर पर किया करती है। प्रत्येक कार्य के आरम्भ में या यात्रा के पहले शुभकामना की प्राप्ति के लिए इन आत्माओं की पूजा की जाती है। इन लोगों के लिए ये आत्माएँ अशारीरिक या अभौतिक नहीं हैं क्योंकि इन आत्माओं को भोजन देना पड़ता है और इनकी रक्षा तथा अन्य सेवाएँ भी करनी पड़ती हैं।

इन प्रकार टायलर के अनुसार सर्वात्मवाद की प्रधानतः छः विशेषताएँ हैं–

1. सभी पदार्थों, वस्तुओं तथा प्रघटनाओं में आत्माओं का वास-स्थान है।

2. इसमें यह परिकल्पना की जाती है कि आत्माएँ ही उन्हें क्रियाशील करने वाली उनकी अन्तर्वासी शक्ति हैं।

3. इसके अन्तर्गत आत्माएँ सम्पूर्णतया अदैहिक नहीं प्रत्युत सूक्ष्म शरीरधारी हुआ करती हैं। ये आत्माएँ पशुओं में पायी जाती हैं और निर्जीव पदार्थ में भी देखी जाती हैं।

4. टायलर का कहना है कि प्रत्येक व्यक्ति स्वप्न देखता है और स्वप्न में विचित्र, विविध और अनेक स्थलों पर वह अपने को भ्रमण करता हुआ पाता है। इसी से शायद आदिम जातियों के अन्दर ऐसी धारण बनी कि प्रत्येक व्यक्ति की अपनी छाया स्वप्न की अवस्था में शरीर को छोड़कर स्वतन्त्र रूप में घूमती है और टायलर के अनुसार "इसी स्वप्न घटना से आत्मा सम्बन्धों धारणा की उत्पत्ति हुई है।"[9]

5. टायलर का कहना है कि चूँकि आदिम जातियों में आत्मा के प्रति विश्वास अतिसाक्षात् अनुभूति से उत्पन्न होता है, अतः इसी विश्वास को सभी धर्मों की गर्भावस्था माना जा सकता है।

6. टायलर का सिद्धान्त मनोवैज्ञानिक सन्दर्भ में अद्वैतवादी एवं ऐतिहासिक विकास क्रम की दृष्टि से एक रेखीय है।[10] यह मनोवैज्ञानिक दृष्टि से अद्वैतवादी इसलिए है क्योंकि टायलर के अनुसार सभी जातियों में एक समान ही मनोवैज्ञानिक प्रतिक्रियाएँ पाई जाती हैं और शायद इसीलिए सभी जातियों

8. आर.एच. लोवी, पूर्वोक्त, पृष्ठ 100
9. आर.एच. लोवी, वही, पृष्ठ 108-115
10. एक देवता में पूजा के समय किसी एक देवता को सर्वश्रेष्ठ तथा सर्वोच्च माना जाता है। इसमें सभी देवताओं की समरूपता आभासित होती है और इसके आधार पर अन्त में यह कहा जा सकता है कि सभी देवता एक ही सत् के विभिन्न रूप हैं "एकं सद्विप्राः बहुधा वदन्ति।" वेदों में एक अवसर पर अग्नि की, दूसरे अवसर पर यम की, तीसरे अवसर पर वरुण की और इसी प्रकार अन्य देवताओं की भी बारी-बारी से सर्वश्रेष्ठ ईश्वर मानकर पूजा की जाती थी। इसे मैक्समूलर ने एक देववाद की संज्ञा दी है।

में धार्मिक चेतना का विकास एक समान हुआ होगा। इसे एक रेखीय इसलिए कहा जा सकता है क्योंकि इसके अनुसार धर्म का विकास एक ही क्रम में हुआ है अर्थात् धर्म का विकास सर्वप्रथम (क) सर्वात्मवाद के रूप में तत्पश्चात् (ख) बहुदेववाद, (ग) एकदेववाद और अन्त में (घ) अद्वैतवाद के रूप में हुआ है। यह धर्म के विकास की आधुनिक अवस्था है।

समीक्षा

इसमें सन्देह नहीं कि सर्वात्मवाद का आदिम धर्म के ऐतिहासिक विकासक्रम के अध्ययन में अत्यधिक महत्वपूर्ण स्थान है। परन्तु यह भी सत्य है कि इस सिद्धान्त की मौलिक विशेषताओं को लेकर विद्वानों के बीच सदैव मतभेद रहा है। यही कारण है कि इस सिद्धान्त के विरूद्ध कई आपत्तियाँ उठायी गयी है। कुछ प्रमुख आपत्तियों को निम्नलिखित बिन्दुओं में रखकर प्रस्तुत किया जा सकता है–

1. सर्वप्रथम आलोचकों का कहना है कि *टायलर* महोदय का मत है कि सर्वात्मवाद की धारणा ही आदिम मनुष्यों से लेकर सभ्य मनुष्यों तक के धर्म के दर्शन का आधार है या यह विश्वास ही सभी धर्मों का स्रोत है अथवा यह विश्व के सभी धर्मों का प्राचीनतम स्वरूप है। किन्तु ज्ञात साक्ष्यों के आधार पर इस विचारधारा को युक्तियुक्त नहीं कहा जा सकता है। अत्याधुनिक गवेषणाओं से यह सिद्ध नहीं होता कि सभी आदिम समाजों में आवश्यक रूप से आत्मा की धारणा में विश्वास किया जाता है। टायलर के एक शिष्य *आर.आर. मैरेट* (1866-1943) ने सर्वात्मवाद के सिद्धान्त की कटु आलोचना की और मैरेट की इस आलोचना को अध्येताओं ने अधिक गम्भीरता से लिया। मैरेट ने *आर.एच. काड्रिंग्टन* की मैलेनिशिया से एकत्रित सामग्री की ओर ध्यान दिलाया और दावा किया कि प्रेतात्माओं में विश्वास से पहले आदिम लोगों को एक निर्वैक्तिक (इम्परसनल) शक्ति में विश्वास था। मैरेट ने इस शक्ति को 'माना' कहा और बताया कि ऐतिहासिक और सैद्धान्तिक दोनों दृष्टियों से 'माना' में विश्वास को प्राथमिकता दी जानी चाहिए। मैरेट (1915) ने *एन्साइक्लोपीडिया ऑफ रिलिजन ऐण्ड एथिक्स* में 'माना' पर एक लेख लिखा और यह स्थापित किया कि 'माना' तथा 'टैबू' (वर्जना) के विचारों से जादुई-धर्म की परिभाषा दी जा सकती है। मैरेट का मत है कि बहुत से आदिम समाजों में किन्हीं ऐसी निश्चित शक्तियों पर विश्वास किया जाता है, उनकी पूजा व आराधना की जाती है जो सर्वथा आत्मा से भिन्न होती है। उदाहरणस्वरूप, इन समाजों में आत्मा से इतर "माना" शक्ति की पूजा व आराधना की एक स्वस्थ्य परम्परा है क्योंकि इन समाजों में "माना" शक्ति को प्राणशक्ति के समान सर्जनात्मक माना जाता है। अतः मैरेट के अनुसार आत्मा की पूजा को धर्म का उद्गम स्रोत नहीं माना जा सकता। वास्तव में "माना" की पूजा व आराधना को ही धर्म की उत्पत्ति का मूल स्रोत मानना चाहिए। मैरेट ने "माना" में विश्वास को जीवतत्ववाद "एनिमेटिज्म" की संज्ञा से विभूषित किया है जिस पर हम आगे सविस्तार वर्णन करेंगे।

यह बात *मर्फी महोदय* भी कहते हैं। मर्फी महोदय ने अपनी पुस्तक *दि ओरिजिन्स ऐण्ड हिस्ट्री ऑफ रिलिजन्स* में लिखते हैं [11] कि आदिम जातियों के जीवन की समस्याओं के अध्ययन से स्पष्ट होता है कि रहस्यपूर्ण एवं विस्मयकारी घटनाओं के घटन से भयभीत होकर आदिम जन उन्हें अलौकिक शक्ति के रूप में उचित कर्मकाण्डों द्वारा प्रसन्न करने लगे। अतः विस्मय और भय आदि को ही आदिम धर्म का तत्व समझना चाहिए न कि आत्मा को। विस्मय और भय धर्म के ऐसे तत्त्व हैं जो धार्मिक आस्था की किसी भी अवस्था में अविद्यमान नहीं पाये जाते हैं। अतः किसी रहस्यपूर्ण शक्ति जिसके सामने कोई आदिम व्यक्ति स्तब्ध हो जाता है उसे व्यक्तित्वपूर्ण आत्मा के रूप में स्वीकार कर लेना आदिम धर्म का कोई आवश्यक तत्त्व नहीं है। आदिम जातियों में इस रहस्यमय शक्ति को कहीं माना, कहीं औरेण्डा और

11. जे. मर्फी, *दि ओरिजिन्स ऐण्ड हिस्ट्री ऑफ रिलिजन्स*, मैनचेस्टर यूनिवर्सिटी प्रेस, 1949, पृष्ठ 70

कहीं वकण्डा इत्यादि नाम से पुकारा जाता है न कि "आत्मा" के नाम से।[12]

2. टायलर के कुछ आलोचकों का कहना है कि "सर्वात्मवाद" को धर्म की संज्ञा देना ही नहीं चाहिए क्योंकि आत्माओं के अस्तित्व में विश्वास कर लेने से ही पूजा व आराधना की भावना का प्रादुर्भाव हो, यह कोई आवश्यक नहीं है। यदि हम यह जान भी लें कि अमुक प्राकृतिक वस्तु में आत्मा का वास है तो भी इसे तब तक धर्म नहीं कहा जा सकता जब तक हम उस प्राकृतिक वस्तु के बारे में सम्यक् जानकारी न रखें, उसके प्रति श्रद्धावनत व भयभीत होकर उससे आत्मरक्षा के लिए प्रार्थना व अनुनय-विनय न करें।[13] श्रद्धा एवं भय की भावना व्यक्ति में किसी शक्ति के प्रति जाग्रत होती है। यह शक्ति या तो उसकी सहायता करती है अथवा उसे नुकसान पहुँचाती है। कहने का तात्पर्य यह है कि आदिम मानव के मन में प्राकृतिक वस्तओं को देखकर "धार्मिक सिहरन" जैसी स्थिति का अनुभव नहीं होता था, उसे मात्र यह अनुभव होता था कि कोई भी प्राकृतिक वस्तु बिना आत्मा के अस्तित्ववान नहीं हो सकती है। उसमें कोई गति या घटना नहीं हो सकती है। अतः यह कहना दोषपूर्ण नहीं होगा कि घटनाओं की व्याख्या के रूप में सर्वात्मवाद की उत्पत्ति हुई है, जिसे धर्म की उत्पत्ति का आदि स्रोत नहीं माना जा सकता है।

यदि टायलर के सर्वात्मवादी विचार को मान भी लिया जाय तो भी इस मत के विरुद्ध एक आपत्ति यह उठायी जा सकती है कि यदि कुछ आत्माओं को अनिष्टकर समझकर दुष्टात्मवाद की परिधि में रखा जाय (जैसा कि लोगों का सामान्य विश्वास है) तो क्या इसे "धर्म" की संज्ञा दी जाय? शायद टायलर इस प्रश्न पर मौन हैं।

इसी सन्दर्भ में *मैरेट* का कहना है कि सर्वात्मवाद वस्तुतः एक धर्म नहीं है प्रत्युत एक प्रकार का आरम्भिक दर्शन है जो मनुष्य एवं प्रकृति की बौद्धिक व्याख्या प्रस्तुत करता है।[14] यदि सचमुच में यह आरम्भिक दर्शन है तो इसे धर्म के उदभव का मूल स्रोत समझना भ्रान्तिमूलक है। अतः *एटकिन्सन ली* का यह मानना है[15] कि यह (सर्वात्मवाद) धर्म न होकर एक आरम्भिक जगत् विचार है जो वस्तुओं के व्यवहार की व्याख्या करता है। यह शायद अधिक युक्तियुक्त है। इस विचारधारा को स्वीकार करने में कोई विशेष आपत्ति नहीं होनी चाहिए। परन्तु यदि इसे "धर्म" न मानकर "दर्शन" माना जाय तो इसे सभी धर्मों का मूलाधार कैसे माना जायेगा?

3. सर्वात्मवाद की आलोचना इसको ऐतिहासिक दृष्टिकोण से प्राचीनतम मानने एवं इसके विकास की कहानी को एकरेखीय सिद्धान्त के आधार पर समझाने के प्रयास के आधार पर भी की जाती है। सर्वात्मवाद को ही एकमात्र आदिम धर्म मानकर इसे विश्व के सभी धर्मों का और विशेषकर अद्वैतवाद

12. इ. डब्ल्यू. होपकिन्स, *दि हिस्ट्री ऑफ रिलिजन्स*, पृष्ठ 17-18

13. *संत तुलसीदास* की ये पंक्तियाँ यहाँ विशेष रूप से द्रष्टव्य है–
जाने बिनु न होइ परतीती।
बिनु परतीति होइ नहिं प्रीति।
प्रीति बिना नहिं भगति दृढ़ाई।
जिमि खगपति जल कै चिकनाई।।
× × ×
श्रद्धा बिना धर्म नहिं होई।
बिनु महि गंध कि पावइ कोई।। - उत्तरकाण्ड

14. आर.आर. मैरेट, *एन्साइक्लोपेडिया ब्रिटानिका*, वाल्यूम 23, पृष्ठ 67, ग्यारहवाँ संस्करण।

15. एट्किन्सन ली, *ग्राउन्ड वर्क ऑफ फिलासफी ऑफ रिलिजन*, पृष्ठ 12

का प्राचीनतम आधार मानना भी ज्ञात तथ्यों से पुष्ट नहीं होता है। क्या गैर-उपासनात्मक धर्मों अथवा समाधिमूलक हीनयानी अनात्मवाद धर्म के विकास को सर्वात्मवाद द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है।

टायलर द्वारा प्रतिपादित धर्म-विकास में मनोवैज्ञानिक अद्वैतात्मक प्रक्रिया को भी तर्कश्रित नहीं माना जा सकता है। उनका यह कहना कि सभी जातियों में धार्मिक चेतना का विकास एक समान ही हुआ है, क्योंकि जातियों में एक समान ही मनोवैज्ञानिक प्रतिक्रियाएँ पायी जाती हैं, गलत है। इसका कारण यह है कि धार्मिक चेतना का विकास किसी एक निश्चित रीति से नहीं बल्कि अनेक रीतियों से होता है। इसकी पुष्टि अनेक प्रवर धार्मिक नेताओं ने की है। स्वयं टायलर ने भी यह स्वीकार किया है कि फीटिश वस्तु (पूजा-वस्तु या ताविज-गंडा) की पवित्रता इसी विश्वास पर आधृत नहीं होती कि इसमें आत्मा का वास है प्रत्युत इस पर भी निर्भर करती है कि इसे तान्त्रिक, मन्त्रों द्वारा सिद्ध किया हुआ समझा जा सकता है। अतः धार्मिक पवित्रता की चेतना व अनुभूति में तान्त्रिक सिद्धि को भी समाविष्ट करना होगा न कि केवल आत्माओं के अस्तित्व में विश्वास को।

4. *जेम्स, लैंग, श्मिट एवं फेनिगन* आदि विद्वानों ने अपने-अपने अध्ययन-परिणामों के आधार पर टायलर के सर्वात्मवाद के सिद्धान्त के विरुद्ध आपत्तियाँ उठायी हैं। इन विद्वानों का मत है कि अनेक आदिम जातियों में सर्वात्मवाद के अतिरिक्त सर्वोच्च ईश्वर, सर्वश्रेष्ठ ईश्वर, सृष्टिकर्ता तथा सर्वपिता से सम्बन्धित धार्मिक धारणाएँ भी पायी जाती हैं। तथा लोवी ने यह अन्वेषित किया है कि "सर्वोच्च ईश्वर", "उच्च ईश्वर", "सृष्टिकर्ता" तथा "सर्वपिता" की धारणाएँ आस्ट्रेलिया की आदिम जातियों में, दक्षिणी अमेरिका की फ्यूजियन जातियों में, उत्तरी अमेरिका की कैलिफोर्नियन आदिम जातियों में पायी जाती हैं। ऐसे सर्वोच्च ईश्वर को इन आदिम जातियों में आदि पिता के रूप में स्वीकार किया जाता है और ऐसा कहा जाता है कि यह ईश्वर आद्य एवं हितैषी है, सद् एवं उचित का संरक्षक है तथा सर्वोच्च सृष्टिकर्ता है, जिसने ऐसा नियम बनाया है जिसके द्वारा वह सम्पूर्ण व्यवस्था के रूप में समाज को बनाये रखता है।[16]

परन्तु *जेम्स* का यह भी कहना है कि "सर्वोच्च ईश्वर" की धारणा में "आत्मा" की धारणा नहीं पाई जाती है। उसके अनुसार "उच्च ईश्वर" की धारणा अनेक आदिम जातियों में अदूषित आदिम धर्म की अद्वितीय विशेषता का संकेतक है।[17] टायलर के अन्य शिष्य *लैंग* ने भी इस मत की पुष्टि की है। उनका कहना है कि आदिम जातियों में प्रेतात्मा की धारणा के पूर्व ईश्वर की धारणा पाई जाती थी। उसके ही शब्दों में-"हम यद्यपि ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में" प्रेतात्मा की धारणा के पूर्व "ईश्वर की धारणा" को साक्ष्यों के आधार पर सिद्ध नहीं कर सकते हैं क्योंकि हम ऐसे आदिम जातियों को नहीं जानते हैं जिन्हें ईश्वर में विश्वास हो, किन्तु प्रेतात्मा से अनभिज्ञ हों। तथापि हम आत्माओं की धारणा के बिना स्रोत के रुप में ईश्वर की धारणा को दिखा सकते हैं। इस प्रकार प्रेतात्माओं के उद्विकास के पूर्व ईश्वर हो सकते हैं और इसलिए प्रेतात्माओं में ईश्वरों की उत्पत्ति के सर्वात्मवाद के सिद्धान्त को आवश्यक रुप से स्वीकार करने की आवश्यकता नहीं है।[18]

मिथ, रिचुअल और रिलिजन नामक अपनी पुस्तक में *लैंग* (1896) ने बताया कि बहुत से आदिम उच्च कोटि के देवताओं में विश्वास करते थे और उनके बीच प्रेतात्मा में विश्वास कभी नहीं रहा था, जबकि टायलर जैसे सर्वात्मवादी चिन्तक के अनुसार आदिम लोगों में सर्वज्ञ देव के अस्तित्व को

16. इ.ओ. जेम्स, दि कॉन्सेप्ट ऑफ दि डिटी, पृष्ठ 25
17. इ.ओ. जेम्स, प्रिहिस्टॉरिक रिलिजन, 1967, अध्याय 8, पृष्ठ 206
18. एन्ड्रिव लैंग, मिथ, रिचुअल ऐण्ड रिलिजन, 1896, वाल्यूम 1, पृष्ठ 310

अमूर्त रूप से समझने की योग्यता का अभाव सर्वथा था। लैंग (1898 : 2) ने तर्क दिया कि ईश्वर या देवता के विचार को "स्वप्नों" और "प्रेतों" के बारे में चिन्तन से विकसित करने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि इन दोनों का उद्भव तो स्वयं ही भिन्न-भिन्न स्रोतों से हुआ है। उनकी दृष्टि में ईश्वर में विश्वास पहले से है जो बाद में विकृत होकर सर्वात्मवाद में बदल गया। लैंग का एक अद्भुत सिद्धान्त था कि एकेश्वरवाद और सर्वात्मवाद दोनों धाराएँ ईसाई धर्म में हिब्रू और यूनानवादी स्रोतों से आईं। धर्म के बारे में लैंग के विचारों को बहुत गम्भीरता से नहीं लिया गया क्योंकि उसे साहित्यिक अधिक और धर्म के अध्ययन में पड़ने वाला नौसिखुआ समझा जाता था। ऐसा होते हुए भी हमें यह तो मानना ही होगा कि लैंग द्वारा टायलर की आलोचना ने बहुत से विद्वानों को (इनमें से एक *विल्हेम श्मिड* भी थे) आदिम लोगों में सर्वशक्तिमान स्रष्टा ईश्वर की संकल्पना के विषय में अध्ययन के लिए प्रेरित किया।

लैंग के उपर्युक्त विचार को लोवी ने भी स्वीकार किया है। इनका कहना है कि साम्प्रतिक धर्मविचारक "आत्मा" की धारणा के बिना भले ही ईश्वर का चिन्तन न कर पायें, किन्तु आदिम जातियाँ प्रेतात्मा की धारणा के ज्ञान के बिना भी ईश्वर की धारणा को स्वीकार कर सकती हैं।[19]

पेतर विल्हेल्म श्मिट ने आदिम जातियों के बीच सर्वोच्च ईश्वर की धारणा के बारे में अपना मत व्यक्त करते हुए कहा है कि "उच्च ईश्वर" की धारणा अलौकिक शक्ति के रूप में पायी जाती है, आत्मा की शक्ति के रूप में नहीं। अनेक आदिम जातियाँ मानती हैं कि "उच्च ईश्वर" आकाश में रहता है न कि आत्मा के जीवन के सदृश। इस प्रकार का प्राणी नीति एवं धर्म की एकता का प्रतिनिधित्व करता है, प्रकृतितः विश्वास करने वालों को श्रद्धायुक्त विस्मय के साथ प्रेरित करता है, ताकि वे उसका नाम लेने में अनिच्छुक हों।"[20] इस प्रकार आदिम जातियाँ उच्च ईश्वर को सर्वशक्तिमान, सर्वज्ञ एवं सर्वव्यापी शक्ति के रूप में स्वीकार करती हैं। वे इस शक्ति के प्रति इतना निष्ठावान एवं समर्पित होती हैं कि उसका नाम लेना भी अपिवत्र समझती हैं।

5. *फेनिगन* का विचार है कि "उच्च ईश्वर" की धारणा यद्यपि सभी आदिम जातियों में समान रूप से सर्वव्यापक तो नहीं कही जा सकती है, तथापि यह अनेक अशिक्षित आदिम जातियों में पायी जाती है। उनका यह भी मानना है कि आदिम जातियों में ऐसे उच्च ईश्वर की पूजा भी स्पष्ट रूप में नहीं देखी जाती है। इस मत की पुष्टि *जेम्स* ने भी की है। इनका कहना है कि आदिम जातियों में प्रेतात्माओं, आत्माओं एवं लघु देवी-देवताओं की ही पूजा व आराधना करने की प्रवृत्ति पाई जाती है, जबकि उच्च ईश्वर को अतीत या इन सबों से सर्वथा इतर या भिन्न माना जाता है।[21] एतदर्थ *जेम्स* ने उच्च ईश्वर को एक मनोवैज्ञानिक प्रवृत्ति कहा है और इसे ईश्वर के अनुभवातीत्व की "उच्चतम धारणा" की संज्ञा दी है।[22] पुनः *जेम्स* ने इस उच्च ईश्वर की धारणा को सर्वथा इतर या भिन्न और आश्चर्यपूर्ण महान (मिस्टिरियम ट्रिमेन्डम) की संज्ञा दी है। अब, यदि कोई सत्ता सर्वथा इतर हो और आश्चर्यपूर्ण हो तो, *ओटो* के अनुसार, इसे तर्कणातीतबुद्धिपरक (नान रेशनल) कहा जाएगा और उसे बुद्धिगम्य तथा सामान्य आत्मा की अवधारणा से स्पष्ट नहीं किया जा सकेगा। अतः निष्कर्ष के रूप में यह कहा जा सकता है कि उच्च ईश्वर की धारणा सर्वात्मवाद के समान ही मौलिक और आदिम है। इसका स्पष्टीकरण आत्मा की धारणा के आधार पर नहीं किया जा सकता है।

19. आर.एच. लोवी, पूर्वोक्त, पृष्ठ 122
20. आर.एच. लोवी, पूर्वोक्त, पृष्ठ 127
21. इ.वो. जेम्स, दि कॉन्सेप्ट ऑफ दि डिटी, पूर्वोक्त, पृष्ठ 2
22. वही, पृष्ठ 29

इस प्रकार जेम्स लैंग, श्मिट तथा फेनिगन आदि विचारकों ने टायलर के इस विचार का खण्डन किया है कि सर्वात्मवाद ही आदिम धर्म का आदि रूप है। इन लोगों का विचार है कि अनेक आदिम जातियों में या तो आत्मा की धारणा के साथ-साथ ईश्वर की धारणा भी पाई जाती है, अथवा आत्मा की धारणा के पूर्व इनमें ईश्वर की धारणा भी पाई जाती है जिसकी टायलर ने अपने सिद्धान्त में पूर्णतया उपेक्षा की है।

6 सर्वात्मवाद चिन्तन धारा के आलोचकों का यह भी कहना है कि आत्मा का विचार एक विकसित धारणा है तथा वह आदिम बुद्धि का विषय नहीं हो सकता। *टायलर* ने आदिम मानव को एक अधिक सचेत तर्कयुक्त प्राणी के रुप में स्वीकार किया है जो वह वास्तव में नहीं है। स्पेन्सर महोदय ने *टायलर* की इस व्याख्या को स्वीकार नहीं किया है। उनका मत है कि आदिम मानव अधिक सचेत, तर्कयुक्त नहीं बल्कि अविकसित बुद्धियुक्त प्राणी था। अतः अविकसित बुद्धियुक्त प्राणी में इतने विकसित आत्मा की धारणा का चिन्तन-मनन असम्भव सा लगता है। आत्मा की धारणा वस्तुतः आदिम मानव की मेधा शक्ति के परे की बात प्रतीत होती है। इस सन्दर्भ में *मैरेट* की इन पंक्तियों को यहाँ उद्‌घृत करना समीचीन प्रतीत होता है। उसका मत है कि आदिम धर्म में व्यक्ति विलक्षण तथा असाधारण घटनाओं को अप्राकृतिक, रहस्यमय शक्तियों के आधार पर समझना और नियन्त्रण करना चाहता है। उसके इस धार्मिक व्यवहार में तार्किक विचारों की कमी होती है और उनकी तुलना में मनोवैज्ञानिक एवं समाजशास्त्रीय भाव-संवेग, भय, विस्मय तथा चकित होने का भाव अधिक रहता है।[23] *जेम्स* ने उचित ही लिखा है कि सर्वात्मवाद में अनेक वर्षों का चिन्तन तथा अवधारणात्मक विचार छिपा दिखाई देता है। इसलिए उनके अनुसार मानावाद को न कि आत्मा को आदिम धर्मों का मूलस्रोत समझना चाहिए।[24]

7. फिर सर्वात्मवाद के सिद्धान्त में टायलर ने प्राकृतिक विषयों में मानवीय शक्तियों को आरोपित किया है। वह यह मानकर चलता है कि जिस प्रकार मनुष्य अपनी इच्छा से कार्य करता है उसी प्रकार प्रकृति भी स्वेच्छा से कार्यरत है। परन्तु धर्म मात्र प्राकृतिक विषयों मानवीय शक्तियों के आरोपण का परिणाम नहीं है, बल्कि पराशक्तियों के प्रति मानव प्रतिक्रिया का उत्पाद है।

स्वैन्टन(1925-358-368) ने टायलर की आलोचना इसलिए की कि उसने ऐसे कारण-सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया जिन्हें सिद्ध नहीं किया जा सकता है। टायलर यह बात जोर देकर कहते हैं कि मृत्यु, रोग और स्वप्नों के अनुभव से आदिम लोगों को एक अभौतिक सत्ता के अस्तित्व पर विश्वास करना पड़ा। यह टायलर का एक अनुमान मात्र है। टायलर इस अनुमग्न को स्पष्ट अनुमान के रूप में हमसे स्वीकार कराना चाहते हैं। परन्तु यह सिद्ध कर पाना सम्भव नहीं है कि टायलर का यह अनुमान एक स्पष्ट या एकमात्र सम्भव अनुमान है। अनुमानों की दुनियाँ में तो और भी हजारों अनुमान लगाए जा सकते हैं।

दूसरे हमें कोई ऐसी तार्किक प्रक्रिया समझ में नहीं आती जिससे आदिम लोग आत्मा सम्बन्धी विचार से प्रेतात्मा के विचार तक पहुँच सके। वास्तव में सर्वात्मा की संकल्पना और प्रेतात्मा की संकल्पना दोनों एक-दूसरे से पूर्णतया भिन्न हैं यहाँ तक कि एक-दूसरे के विपरीत भी हैं।

हमारा यह भी मानना है कि टायलर की सर्वात्मवादी विचारधारा उसके अपने विचार हैं और उन्होंने स्वयं के विचारों को आदिम लोगों की विचार प्रक्रिया पर आरोपित किया। हमारे पास यह जानने का कोई साधन नहीं है कि आदिम लोग वास्तव में यही अथवा इससे कुछ भिन्न बात सोचते थे। अतः

23. आर.आर. मैरेट, थ्रेसहोल्ड ऑफ रिलिजन्स, पृष्ठ xxxi
24. इ.ओ. जेम्स, पूर्वोक्त, पृष्ठ 25

टायलर का यह सिद्धान्त भ्रामक तर्क-दोष से ग्रस्त है।

अन्ततः हम यह कहना चाहेंगे कि धर्म की उत्पत्ति का यह एक प्राचीनतम प्रयास है। इस सिद्धान्त के विरुद्ध उपर्युक्त आपत्तियों के बावजूद भी टायलर का मत मानवशास्त्रियों, समाजशास्त्रियों एवं अन्य सामाजिक विज्ञानवेत्ताओं के लिए धर्म के उद्‌भव एवं विकास पर नये सिरे से चिन्तन-मनन करने का एक पथ अवश्य प्रशस्त किया है।